जहाँ तक देखता हूँ

मुकेश जैन



रामकृष्ण प्रकाशन
सावित्री सदन, तिलक चौक
विदिशा (म. प्र.) ४६४ ००१

जहाँ तक देखता हूँ
(कविता संग्रह)

मुकेश जैन

प्रथम सस्करण 1996
मूल्य · 50/-
आवरण/रूपाकन श्रीमती रितु जैन एव गिरधर उपाध्याय
डी टी पी. कम्पोज़िंग सिल्वर स्कैन कम्प्यूटर सर्विसेज
तिलक चौक, विदिशा (म. प्र)
मुद्रण/प्रकाशन रामकृष्ण प्रकाशन
सावित्री सदन, तिलक चौक
विदिशा (म प्र) 464 001
दूरभाष . 32675

JHAN TAK DEKHTA HOON
A Collection of Poems by **Mukesh Jain**

ISBN-81-7365-075-6 Rs 50/-

समर्पित

उन क्षणों को

जो

रचनात्मक विचारों को

जन्म

देते हैं

कविता क्रम



भूमिका

कविता लिखना कोई विवशता नहीं है, न ही कोई औपचारिकता। जब अपने भीतर का पात्र भावनाओ से इतना भर जाए कि वह छलकने लगे तो कागज पर छलका हुआ सत्य कविता बन जाता है। कविता में व्यक्त शब्द और अव्यक्त शब्द अन्तराल सिर्फ दर्पण का ही काम नहीं करते वरन् छैनी का काम भी करते हैं जिनसे कवि अपनी भावप्रतिमा एवं विचार–प्रतिमा को आकार देता है।

यह थी वैचारिक एवं भावनात्मक पृष्ठभूमि इन कविताओ की। वर्ष १९८६–८७ मे जब ये कविताएँ लिखी गईं थी, मैं एम बी ए. की डिग्री लेकर बम्बई के व्यस्त जीवन में दिन मे व्यावसायिक विश्व को समझने का प्रयास कर रहा था और रात मे 'पातांजलि योग सूत्र' एवं 'विज्ञान भैरव तंत्र' की पद्धतियों के प्रयोग स्वयं के साथ कर रहा था। इसीलिए ये मेरे लिये कविताएँ कम व मेडिटेशन अधिक हैं।

आशा है मेरी सवेदना आपकी भाव तरगों के साथ अनुनादित हो सकेगी।

-मुकेश जैन

जहाँ तक देखता हूँ

(कविता संग्रह)

बोलो शहर



अरे ओ शहर
तू अपने सीने की किताब पर
पत्थरों से गोदता है
पत्थरों की ही कहानी
और
मनुष्य कुछ होने लगता है
अधिक खोखला इधर.. ....
अपने दिल की जमीन पर
यांत्रिकता के बीज डालकर
चला देता है तू
पहियों का सर्कस
आदमी हो जाता है
कुछ और जड इधर
और चिपटने लगता है
मील के पत्थरों से
दौड लगी है तुझमें और
इस अदद आदमी में......... ....?
तू जीत नहीं पाएगा
आदमी पहले ही से
खोखला है
बौना है
तू इससे
क्या छीन पाएगा ?



चाहता हूँ



उस भूरी–सी
चुलबुलाती चिडिया के
पंख चुपके से चुराकर
या इस
दीमक चटी उम्र की सीढी को
थोडा सा यूँ उल्टा लगाकर
दौड जाना चाहता हूँ मैं
और लगाना चाहता हूँ
गले फिर बचपन को अपने।
लाघ कर लक्ष्मण रेखा
कुठा–वर्जनाओ की
चलूँ दूर
और रहूँ दूर
छोड यहीं
मृगतृष्णा और प्रवचना भी–
बन स्वयं उन्मुक्तता मैं
बस यूँ ही मिट्टी मे सनकर
कुछ ककड हाथो मे ले लूँ
थोडा चलकर गिरकर पडकर
चाहता हूँ
कुछ खेल खेलूँ।
दादी माँ की कहानियों से
बन्दर, चूहा और कबूतर
या, एक समय की बात है
या फिर

मंत्री, राजा, रानियों से
लेकर कुछ रंग उधार
देखना फिर चाहता हूँ
वही परी रानी के सपने
और लगाना चाहता हूँ
गले फिर बचपन को अपने।



कर्ण और अर्जुन



मेरे जीवन सूर्य ने
नियति की कुन्ती को
एक पुत्र दिया –
मैंने अचानक यूँ ही
उसे कर्ण नाम दिया
और कहा जाकर
कान में उसके एक दिन कि
"कर्ण तुम व्यक्ति नहीं
विचारधारा हो"।
कर्ण हर्षित, प्रफुल्लित उसी विश्वास के साथ
विचारधारा–सा
पलने, बडा होने लगा
किन्तु
मुझे क्या पता था
हमेशा से ही
तर्कों के पहिये जमीन मे धसौं कर
फिर वध कर दिया जाता है
हर एक विचारधारा का
जब–जब भी
बुद्धिजीवी बन बैठे हो
कृष्ण और अर्जुन –
हाय, मेरा पुत्र शोक !



मैं बोलता क्यों नहीं

●

मैं नहीं पढ़ना चाहता
अखबार आज का
वही अयोध्या, मेरठ, अलीगढ
या फिर बड़ौदा और अहमदाबाद
कितने ही शहरो की भीड
खडी हो जाएगी
मेरे सामने
और पूछेगी मुझसे
सिर्फ एक प्रश्न
"तुम कुछ बोलते क्यो नहीं ?"
हाँ, यही प्रश्न,
"मैं बोलता क्यों नहीं" रोकता है मुझे. . ..
पर दोस्त
चाय की प्याली के साथ
उसी चाय में डुबो देने के लिये
सारे पीडा, संताप और आक्रोश को
इस अदने अखबार के सिवाय
सहारा भी क्या है
और इसीलिए
शहरो की उस भीड की
गन्दी--गन्दी गालियाँ
और धमकियाँ सुनने के सिवाय
चारा भी क्या है.. ———
चाय का असर शायद पता नहीं तुम्हें !

दिन तो निकल जाता है
उस चाय की गर्मी
और कड़क स्वाद के सहारे
पर दोस्त
रात को सोने के पहले
कई घंटों तक आ जाता है
वह अखबार
सिराहने मेरे, और पूछता है धीरे से
"तुम कुछ बोलते क्यों नहीं ?"



याद रखो, विश्वामित्र !



याद रखो, विश्वामित्र
किसी भी युग में
यज्ञ–विघ्न एक नियति है
और कोई विशेष महत्व नहीं
उसका दशरथ के लिए–
और हो भी क्यों ?
एक तरफ राम
और दूसरी तरफ यज्ञ की आहुतियाँ
व्यर्थ है तुलना ही
दशरथ के लिए–
किन्तु, आज
इस मानवता यज्ञ मे
जब विघ्न बन गया है
नियम जैसा
और तडप रहे हैं प्राण
राम के अयोध्या में
उठो विश्व !
छीन लो राम को
दशरथ से
यज्ञ के लिए
राम के लिए
और
स्वय दशरथ के लिए।



नाटक



धुधलके पर्दे के हट जाने पर
यह कौन दिखा था
रगमच पर
किसका अस्थि पंजर है यह
और चीखता है कौन यहाँ
चमगादड की आवाज–सा।
होता है कभी–कभी
ऐसा भी
कि पर्दा उठने से
तालियों के बजने तक
आदमी बन जाता है
एक भुतहा खण्डहर और,
असफलताएँ छोड जाती हैं
स्मृति–चिन्ह के रूप मे
कुछ बदनुमा दाग
और
कुछ चीखें अस्पष्ट सी –
कहो सूत्रधार।
क्या तुम्हारे नाटक का नाम
जीवन नहीं ?



अवलोकन



बिल्लियाँ पीकर भी दूध
इतराती रहीं
मिमियाती रहीं
समाजवाद का गधा
इस बीच
प्रजातन्त्र के सिर पर उगी
आशाओं की घास चर गया।
अपनी-अपनी रोटी के हिस्से
लेकर
कुर्सी पर जा बैठे बन्दर
रंगे सियार थे सब दौड़ रहे थे
कुछ बाहर थे
और कुछ अन्दर।
मैं गीदड़ था
भाग रहा था जंगल को
चल रहा था
जब यह सब जंगल मे –
एक पागल गाँव के कोने मे
बड़बड़ा रहा था
गाँव बना जगल, और
जगल सारा गाँव बन गया
हाँ, जगल सारा गाँव बन गया।



क्या फ़र्क पड़ता है

•

भूख मिटाने के लिए
ड्रायफ्रूट खाए जाएँ
या सूखी रोटी
क्या फर्क पडता है ?
इस व्यवस्था का देवता
सोमा पीकर उन्मत्त
क्या समझ सकेगा अन्तर
मधुवन की बाँसुरी और
कोठे की पायल मे ?
ये शब्दों के बाजीगर
व्यर्थ ही करते हैं ठिठोली
वरना निठल्लेपन की नग्न कामिनी को
शेषनाग की शैय्या पर
या
सूखे घास की खेत में
भोगा जाए
कहीं भी
क्या फर्क पडता है ?

•

गणित



इस काली सडक ने
चुरा ली है
उस सँकरी गली की रोशनी..........
सडक के पास अब
दिन का सूरज तो है ही
और रात का सूरज भी
जो चुराया हुआ है –
चोरी की परम्परा
होती है हमेशा ही
प्रारम्भ सूरज वालो से
और
चोरी का अधिकार
हमेशा ही
व्यक्तित्व की विस्तृतता के
अनुपात में होता है।



प्रमाण

•

साझ ढले जब छत पर
टहलने लगता हूँ मैं
और फिर
सब्जी व गेहूँ के भाव
और नौकरी के आठ घंटों को
भूलकर
मन जब होने लगता है
दार्शनिक–सा
ढूढता है किसी
अन्तिम सत्य का कोना
नेति–नेति करता हुआ,
और तब
चली आती हो तुम
साकार की उपासना बनकर
करते हुए उल्लंघन
निराकार के क्षेत्र का
स्पष्ट रूप से और साथ में
नकारते हुए
ब्रम्ह के नैतित्व को
दे देती हो प्रमाण मुझे
द्वैत का–
कि कोई है जो पुकार रहा है
और दूसरा एक
जिसे पुकारा जा रहा है।

•

पदचिन्ह



ये पदचिन्ह हैं
कुछ छोटे, कुछ बड़े
कुछ उथले, कुछ गहरे—
ठोस हों कदम तो
गहरे पदचिन्ह बना सकता है
किन्तु भूखा पेट
वह गहरापन
कहाँ से ला सकता है।
मैं भी जानता हूँ
मिटा देगा
हवा का झोंका एक
इन उथले पदचिन्हो को
फिर भी मैं नमन करता हूँ इन्हे
क्योंकि ये पदचिन्ह
बलात्कारियों के खंजर से
व्यवस्था की निर्वसन देह पर
गोदी गई
खूनी कहानी है।



कोशिश तो करो



मुझे भी घसीट रहे हो तुम
पछताओगे फिर
आज नहीं
सहस्त्रो वर्षो बाद
जब कोई आकर कहेगा
यह तुमने क्या किया
एक युगपुरुष को
फाँसी पर चढा दिया
किस बात का बदला लिया
क्यो कुल्हाडी को
अपने ही पैरो मार लिया
दोप तुम्हारा नहीं दोस्त
यह पुरातन परम्परा है
क्रास एव विप की
या शायद
जीसस और सुकरात की
मुझे सिर्फ एक बात बताओ
फिर चाहे अपनी परम्परा निभाओ
तुम सुकरात को जहर क्यो देते हो
जहर को सुकरातत्व क्यो नहीं

कोशिश करना कभी
वह जहर अमृत बन जाएगा
सत्य को क्रास पर चढाने की जगह
चढाना कभी क्रास को सत्य पर
तब हर क्रास
जीवित जीसस नजर आएगा।


आज के कर्णधार

•

स्याह रातो की सस्कृति के ठेकेदारों
कहाँ कैद किया है तुमने
उन उजालो को,
क्यो आज मिलती है
सिर्फ नपुसक चुप्पी
या डरावनी हँसी
पूछे गए सवालो को।
वेद व्यास और शकर की
इस धरती पर
क्यो करते हो बलात्कार
ब्रह्म का
और पूजते हो दीवालो को।
मैनका का नाच दिखे
और जनक की पदवी मिले
भला चाहिये क्या और
कलियुगी रगमच के मतवालो को।
वर्षों की चुप्पी वाला
महर्षि का रूप छोड
थोडी देर के लिए
आकर सडक पर
बजाते हैं जो गालो को।
चौकीदार सो रहा खुश है
पिला जो दी है
कुएँ मे घुली भाग
सारे गाँव वालो को।

•

क्यों



शब्दो के चक्रव्यूह में
बन गई अभिमन्यु
मेरी अभिव्यक्ति –
किन्तु अफसोस
मेरी मानसिकता द्रौपदी नहीं
कर सकता है विक्षिप्त
पुत्र–विछोह उसे
किन्तु पूछता हूँ मैं
कि क्या मैं इतिहास हूँ
क्यों घसीटकर मुझे
कुरुक्षेत्र में
रक्त से लिखे जाने का
प्रयास किया जा रहा है।



यहाँ से विश्व देखो



कैलाश पर खडे होकर
विष से अपनी आँखें धोकर
यहाँ से विश्व को देखो–
तुमने महाभारत लडा है कभी
यदि नहीं, तो कभी
बन कर सारथी पार्थ के
खडा कर रथ
सेनाओं के मध्य मे
यहाँ से युद्ध को देखो–
अभिमन्यु मत बन जाना
पर्याप्त है शिखण्डी होना ही
या कह सको यदि
'अश्वत्थामा हतो'
युधिष्ठिर की तरह
तो बाहर खडे हो तुम
चक्रव्यूह को देखो –
व्यर्थ मंथन है
व्यर्थ शेष–शय्या
विष, गंगा, लक्ष्मी या
नहीं चाहिए क्षीर सागर यदि
स्वयं में पचभूत और
हर मानव में मानव देखो।



सिद्धार्थ

वे बन गए थे
निमित्त तुम्हारे अमरत्व के
वृद्ध, बीमार..............और मृतक
और दिखा गए पथ
एक पथदर्शक को
किन्तु तब से आज तक
गंगा और जमुना मे
बह गया है बहुत–सा पानी
वे चारों निमित्त
एकाकार हो
कर बैठे आक्रमण
मेरे राष्ट्र की प्रतिमा पर
और मैं–
खड़ा हूँ
इस
जर्जरता, नपुंसकता व निष्प्राणता के समक्ष
विवश–सा
क्योकि मैं जानता हूँ
आज नहीं है प्रतीक्षा
किसी भी बोधिवृक्ष को
किसी सिद्धार्थ की।

पात्र-परिचय

●

वनवास भी था मेरे हिस्से मे
अग्नि परीक्षा भी दी मैंने
अयोध्या, पंचवटी, सरयू या
विहग, जन के
विषाद का कारण बना मैं—
हाथ मे क्या आई ?
सिर्फ एक मृगछाला !
मर्यादा रखकर हाथों मे
खो बैठा पुरूषोत्तम भी कहीं।
बोलो वाल्मिकी,
यह कैसी रामायण मेरा जीवन है
पल—पल हर क्षण
मैं यह क्या जीता हूँ
सन्दर्भ नहीं देना
सिर्फ पात्र परिचय ही
राम हूँ,
या मैं सीता हूँ।

●

दूरियाँ

●

धूप ठहर जाती है हर दिन
दरवाजे पर मेरे
क्यों और कैसे, पूछता हूँ
स्वयं से प्रश्न रोज सबेरे।
ठहरना मृत्यु का पर्याय है
और धूप जीवन का संकेत
तो फिर क्यों हो रहा
यह आध्यात्मिक द्वन्द्व
आधिभौतिक धरातल पर
दरवाजे के मेरे
मुहँ बाए क्यों खड़े हैं
वहीं सभी प्रश्नों के घेरे।
मैंने नहीं नापी कभी दूरी
दरवाजे से गलियारे की
या उजाले से अंधियारे की–
क्यों ?
अव्यक्त भावनाएँ, अपूर्ण आकांक्षाएँ
कराह रही हैं वहाँ

अतृप्त मूल्य एव आदर्श
तडप रहे हैं वहाँ
और कई अनुत्तरित प्रश्न
वहीं पडे हैं मेरे
धूप ठहर जाती है,
इसीलिए शायद,
रोज सबेरे, दरवाजे मेरे।

●

परम्परा



चीर देती है अन्धेरे की चुप्पी को
आवाजें कुत्तों के भौंकने की ;
यहाँ की हर गली में
अंधेरा है
और इसलिए आवश्यक है
एक कुत्ते का रहना भी.........
रहे बहुत समय तक तो
बन जाता है संस्कृति अंधेरा भी
और देता है चुनौती
पुरुषार्थ को उस भौंकते हुए जीव के
जिसने लिया है ठेका
मानवता को अंधेरो से बचाने का।
मुझे क्या मतलब है किन्तु
जब भी होता है
बलात्कार मेरी आत्मा का
या तो होता है अंधेरा वहाँ
या फिर
गुर्राहट कुत्तों की
और
रह जाते हैं पीछे
कुछ शब्द ही सान्त्वना के मेरे पास
जिन्हें मैं
करता हूँ परिभाषित
परम्पराएँ कहकर।



मुक्तिबोध

●

पकड़कर फन
जब भी किया है प्रयास
जहर के दाँत निकालने का
हाथ मे आकर रह गई है
केंचुली सिर्फ ।
व्यवस्था का खण्डहर हो
और
तक्षकों की सस्कृति
तो सपेरा भी सिर्फ
बाँग देने वाला मुर्गा
बन कर रह जाता है
काश,
यह पता होता कि
जहर से भी अधिक जहरीला
हो सकता है मुक्तिबोध
तो
हम भी कर चुके होते
जजीरो का वरण
केचुली की तरह।

●

यह शहर बम्बई



दिवस भर दौडते हैं ये सब
इस शहर पर
भीड बनकर
और फिर
हो जाने पर निशा
दौडता है यह शहर उन पर
"क्लोस्ट्रोफोबिक" दीवारें बनकर
भूखे पेट की अकुलाहट बनकर
आकाक्षाओ के भुतहा साये बनकर।
विडम्बना सिर्फ इतनी है
कि इस शहर मे
ले रखा है
कुछ लोगों ने
सूरज को किराये पर
और निशा नहीं होती
उनकी गलियो में कभी
और
नहीं दौड पाता यह शहर
उन पर कभी।



सम्पूर्ण वृत्त

•

मेरे व्यक्ति होने की यात्रा
हुई थी प्रारम्भ
मेरे व्यक्ति का अर्थ समझने के साथ—
स्मृति की पोटली मे
उस अर्थ को बाध कर
जुटा कर आदर्शों का खाना—पानी
चलने लगा था कारवॉं
मूल्यान्वेषण की ओर
कारवॉं के रास्ते मे
मील के पत्थर
चिपटते हैं राही से
कुछ गन्दी जोक की तरह
या कुछ चिर—विरहिणी प्रिये की तरह ....
मिलन के आँसू और - -
विश्वासघात की वर्षा की बूंदें
मिटाने लगती हैं
अस्तित्व के पन्ने पर लिखा हुआ
व्यक्तित्व का लेख—
तब नया सर्जन
करती है प्रारम्भ
अनुभूति की लेखनी
और खोलकर पोटली स्मृति की
भर देती है उसमे
कुछ बिल्कुल नये अर्थ ....
मैं फिर कुछ समझा हूँ

नया सन्दर्भ, नया अर्थ
एव नया परिप्रेक्ष्य
ये सब
व्यक्ति मे नयापन भर देते है।
मेरे व्यक्ति होने की यात्रा
समाप्त हो गई है
मेरे व्यक्ति का अर्थ समझने के साथ ही।


पागल, होता आदमी



बहरुपियो के शहर में
पागल होता आदमी
डरता, डराता
चलता, चलाता
दुनिया के बाजार मे
जिस्म खोता आदमी
चक्रव्यूह मे फँसता और
चक्रव्यूह पर हँसता
रणभेरियों के शोर मे
कैसे सोता आदमी
गिरता, उठता
फिर से चलता
दर्द भरे ससार मे
क्यो न रोता आदमी
बहरुपियों के शहर मे
पागल होता आदमी।



अभिव्यक्ति का आह्वान



तुमने हमेशा ही
किया है प्रयास
समझने का शब्दो को
और फिर तलाशने का अर्थों को
क्योकि
तुम्हारी जीवन यात्रा
प्रारम्भ होकर व्याकरण के पन्नो से
समाप्त होने चली थी,
तर्क–शास्त्र के समुद्र मे.. .. .
तुम कहती थीं
शब्द में शक्ति होती है।
किन्तु मैं नहीं मानता,
वास्तविक शक्ति तो अर्थ मे होती है
निर्जीव है शब्द तो
एक सूखे पत्ते की तरह
मुड जाएगा, टूट जाएगा, पलट जाएगा
वह, जैसे अर्थ चाहेगा.. .. ..
इसलिए
ऐ अभिव्यक्ति मेरी !
स्वयं की अनावृत्ति के लिए
निकलो बाहर
शब्दो के चक्रवात से
और करो स्वीकार
इस अर्थ को, जो दे रहा
प्रतिध्वनि
सत्यम, शिवम और सुन्दरम की।



पाठ

•

द्वार पर सदियों से लगे कान
होने लगे हैं
सवेदनाशून्य अब
समझकर शायद यह कि
नहीं आएगी दस्तक कोई
या फिर कर लिया है
ध्वनि ने भी पलायन
भौतिकी के नियमो से।
मैं समझता हूँ
कान ही क्या
कोई भी होता वहाँ
सब कुछ सिखा देती है
अनन्त नि स्तब्धता
और तब प्रारम्भ होती है
विकास यात्रा
उन कानो की
जिस यात्रा की अवश्यम्भावी परिणति
होनी है इस अनुभूति में
कि
द्वार की उपस्थिति
करती नहीं सकेत
दस्तक की अनिवार्यता की ओर।

•

विडम्बना

•

सरयू,
तुम भी तो हो गवाह
सीता की अग्नि परीक्षा की
और परम्पराओ का निर्वाह करने मे
महान है यह देश,
इसीलिए आज तक
हो रही है अग्निपरीक्षा
सीताओ की इस देश मे –
अन्तर सिर्फ इतना है
बाहर निकल नहीं पाती
सकुशल अग्नि से
आज की सीता
कारण सीता की दुर्बलता नहीं
वरन्
वास्तविकता यह है कि
खो चुकी है
अग्नि अपनी निर्णय क्षमता
जलाते हुए
सीताओं को युगो से।

•

शहर



इस शहर के
चेहरो को देखकर लगता है
होने लगी हैं विषाक्त
सवेदनाएँ भी अब —
चेहरों पर खिची रेखाएँ
कर देती हैं पराजित
ज्यामिति की किसी भी
आकृति को —
स्वाभाविक भी तो है
बलात्कार भावनाओ का
हो जाता है सार्वत्रिक
जब
बदचलनी व्यवस्था की
सर्वव्यापी हो जाती है।



माँ

●

भर जाएगी यह पृथ्वी
इडिपस जैसे पुत्रों से
जो न सिर्फ नोचेंगे यौवन
वरन् करेंगे प्रयास
मातृत्व को परिभाषाहीन करने का
किन्तु
परम्परा है जननी
सहनशीलता की
एवं नासूर विकास के अंग पर
जहाँ से रिसती है
स्वार्थपरकता–
हाँ, यह अवश्य है
कि यह माँ धरती
कभी नहीं पूछेगी
कि चीर कर हृदय मेरा
क्या छिपा रहे हो तुम
सेम के बीज
या किसी नपुंसक का शव।

●

कृष्णा



क्यो पथरा गई हैं ऑखे
तकते हुए राह किसी की
कृष्ण !
कर आए हो हिसाब तुम तो
मधुवन से अपना
किन्तु
राधा के कुछ पल
मूक से पल
असमर्थ हैं
अपना औचित्य तलाशने मे —
कृष्ण !
इसके पहले कि
फैल जाए यह बात
जगल की आग की तरह
और उठने लगे
कडवा कसैला धुआँ,
क्या दे सकते हो
कुछ स्वर उधार
अपनी बॉसुरी के
उन मूक पलो को
ताकि
मिल जाए
राधा को भी आज अभिव्यक्ति।



अनुत्तरित प्रश्न



माँ की गोद, लोरियों
और
आज की शाइजोफ्रेनिक लाइफ के
बीच के खाली स्थान् में
डाल दिये हैं मैंने
यूँ ही कुछ अनुत्तरित सवाल
और बहुत से बूढ़े, जर्जर वर्षों का
निःस्पन्द अन्तराल।
अब स्वीकार कर लेना
हर छोटी बात को
और झुक जाना
हर छोटे बोझ से
आदत–सी हो गई है
जैसे
क्षयित होने लगी हैं राहें
व हुआ है मूल्यों को पक्षाघात,
जैसे निशा के गर्भ में ही से
श्याम रंग चुरा लाया है
मेरे अस्तित्व का प्रभात।
इस तरह
पलों को चुनते ओर
बिखराते जाने से
या मील के पत्थरों से
सर टकराते जाने से
क्या तलाश सकूंगा

अपनी खोई अस्मिता
या कल ही की तरह
मिलेगी
मृत्युगामी जीवन की
परिणति एक चिता।

सड़क



शाम को जब
थक जाती है यह सडक
भागते–भागते शहर के साथ
और तब
करने लगती है महसूस
अपने सीने पर दौडाए हुए
पहियों व पैरों को –
फिर तडप उठती है
याद कर उन बूंदो को पसीने की
जो दिन भर चीरती रहीं
सीने को उसके
खौलते हुए तेल की तरह।
रात में फिर
सडक की लाचार निगाहे
मागती प्रतीत होती हैं
हिस्सा मेरी बोतल में
किस बात का हिस्सा ?
मैं नहीं चलता तुम्हारे सीने पर
नहीं, उडता भी नहीं मैं हवा में
और न ही झूलता हूँ
पहियों के पालने में
किन्तु माफ करना मुझे
अभी मैं नहीं हुआ हूँ इतना परमार्थी
कि घिसटने का भी
टैक्स चुकाऊँ।



परिवर्तन

●

स्वजनों का स्वत्व
और जीवन का तत्व
नहीं खड़े प्रश्नचिन्ह बन आज
खो चुके किन्तु अर्थ ही अपना
कुरुक्षेत्र में खड़ा अर्जुन
मांगता है नई गीता।
निष्काम कर्मयोग को प्रवृत्त
स्थिरप्रज्ञ पुरुष हो योगस्थ
ढूंढता है केन्द्र विश्व का
मिलता भी उसे केन्द्र यदि है
खो जाती कहीं परिधि है
ज्यों निर्णयक्षमता खो चुकी अग्नि
आतुर जब अग्नि प्रवेश को सीता
कुरुक्षेत्र में खड़ा अर्जुन
मागता है नई गीता।
भीष्म द्रोण नहीं पूजनीय अब
कहाँ अभिमन्यु-सी परम्परा
कर्ण, युधिष्ठिर लुप्त आज हैं
चीरहरण से व्यथित धरा
कृष्ण।
महाभारत के भारत का
धर्मपात्र आज हुआ है रीता
कुरुक्षेत्र मे खड़ा अर्जुन
मागता है नई गीता।

●

जीवन-गणित



व्यवस्था की इबारत
जब कर देती है
उपस्थित एक सवाल
शब्दों को बनना पड़ता है चर राशि
और
अचर होते हैं तब
संस्कृति, सभ्यता, इतिहास,
संस्कार, विचार, आवेग
समय और देश.......... ..।
सब प्रतीक बनकर
रस, छन्द और अलंकार
जूझते हैं
और करते हैं प्रयास
उस सवाल का हल ढूंढने का,
हल सवाल का
जो अभिव्यक्ति होगी
व्यवस्था की, व्यवस्था के लिए।
यदि उद्देश्य यही है
तो
जीना ही होगा जीवन को
बीजगणितीय समीकरण की तरह।



अनवरतता



हवा चलती है
तब तक मैं प्रफुल्लित होता हूँ
किन्तु जब
आंधी मे बदल जाती है वह
तो
काँप उठता हूँ मैं
सूखे पत्ते की तरह
आशका से
अपने अस्तित्व के समाप्त होने की —
तब मैं ओट ले लेता हूँ
एक गन्दे, सूखे—अधगीले पत्थर की
फिर
भयाक्रान्त उसी काराग्रह में
जीवन बीतता जाता है —
गन्दे पत्थर की ओट
स्वाभिमान बन जाती है
और
हवा फिर भी चलती है।



सापेक्ष सार्थकता



सूरजमुखी रात मे खिलेगी
या रजनीगंधा दिन मे महकेगी
तो क्या फर्क पडता है –
तुम समझोगे नहीं
निःस्तब्ध काली रात का डरावनापन
और
शुभ्र धवल दिवस का गदरायापन
क्योकि
खिलना और महकना
तुम्हारे लिये मायने नहीं रखता।
प्रश्न जो तुम्हारे लिए है
वह यह कि
तुम शब्दों को क्यों जीते हो
उनके अर्थों को क्यों नहीं,
क्या आज तक
भूतो व भभूतों से सिर्फ
शिव बना है कोई
फिर
यथार्थ की लक्ष्मी को भोगने के स्थान पर
निरर्थकता का
विष क्यों पीते हो।



काल-परिचय

काल है, काल है
जलधि के तट का छोटा–सा ककर !
अन्दर की, बाहर की
खुलती–बधती हथकडियॉ
सोने की, चादी की
चलती–सजती घडियॉं

समय क्या विश्व है
यही एक सवाल है
काल है, काल है
कैलाश पर, मृगछाला पर बैठा हुआ शकर
भवँर है, अघड है
केन्द्र पर, परिधि पर
काला तम्बू डाल गया कोई
चुपके से जलधि पर
रुकता है, गिरता है
हाल भी बेहाल है
कोल्हू का बैल है
कैसी यह चाल है
काल है, काल है
डार्विन के सिर बैठा, नटखट–सा बदर

नि स्तब्धता छा रही
कोठे पे, मदर मे
बाँसुरी टूटी, मछली का जाल फेंका

काले समदंर में
साँस है जीवित अब तक
कैसा यह कमाल है
घुंघरुओ का शोर और
पैरो की ताल है
        काल है, काल है
मृत हुए भगवान का, अंधेरा–सा मदर।

ब्रह्मा उवाच

●

जब हृदय टूटता है
विधाता मनुष्य से पूछता है
क्या तुम विष्णु हो
जो सपनों के सागर में,
आशाओं की शय्या पर
यथार्थ की लक्ष्मी को भोगते हो—
यदि नहीं तो
कहाँ से पाया अधिकार तुमने
एक हृदय तोड़ने का ?
क्या तुम महेश हो,
भावों की पुण्य सलिला को
स्वार्थ की वेणी में आबद्ध कर
अव्यवस्था के समुद्र से मथित
विष को कण्ठस्थ किए हो
यदि नहीं तो,
कहाँ से पाई शक्ति तुमने
हृदय को तोड़ने की—
मनुज,
रहो सीमा में अपनी
न करो अतिक्रमण मेरी सीमाओं में
भाग्य प्रवाह को यूँ न मोड़ो
सत्, चित् और आनन्द के पर्याय
हृदय को ऐसे ना तोड़ो।

●

काला आदमी



इस देश का हर आदमी
काला, और अधिक काला क्यों है ?
क्या इसलिए कि
काले शिव, काले कृष्ण और
काले काल–भैरव की पूजा
दे रही है एकात्मता की दिशा
इस पुरुष को–
या इसलिए कि
गोरी चमडी, गोरी सभ्यता एवं
गोरी संस्कृति का प्रशंसक
यह नपुसक बन गया है बन्धक
अपने ही सायों का–
नहीं, शायद नहीं
जब बाजार काले हो
राजा काला हो
पैसा काला हो
रोटी के सूखे टुकडे खाने की आदत ने
ले लिया हो रूप
कोयले चूसने का
तो क्या आदमी नहीं हो जायगा
काला–प्रेत, स्वयं ही का
हा, हा, हा, हा !
काला आदमी।



सापेक्षता



समय, दूरियाँ, यात्रान्त
ये शब्द
हो सकते हैं सार्थक
यायावरी के किसी विशेष संदर्भ में—
सम्पूर्ण वृत्त पर
अनन्त अनवरत परिक्रमा कर रहे
कोल्हू के बैल के लिए
इन का क्या औचित्य।



यात्रान्त



साधारण एवं सरल अर्थों में
शिक्षकों के प्रसंगो मे
शब्दकोषों के संदर्भों मे
यात्रा का अन्त ही तो
कहलाता है यात्रान्त–
किन्तु,
जीवन की टेढी–मेढी पगडडियाँ
जो करती है असमंजित
व्याकुल और व्यथित पथिक को
जब चलना बन्द कर देती हैं वे भी
पथ का अन्त भी तो
बन जाता है यात्रान्त–
या फिर
व्यवस्था के झंझावत
एवं सम्बन्धों की आंधियाँ
उडा ले जाने लगते हैं
एक एक भाग क्रमश.
उस यायावर का तो
अस्तित्व का अन्त भी तो
बन जाता है यात्रान्त।



वर्तमान



सन्दर्भ वाक्य या
महापुरुषो के आदर्श
मन्दिरो मे रखने के लिए
ही होते हैं क्या ?
सत्य को मिथक बनाकर
पुस्तको में सजा देने वाली सभ्यता
जन्म तो अवश्य देगी
पराजय के महोत्सवो की सस्कृति को--
जर्जर कर गाडीव पृथापुत्रों के
और कर देगी नपुसक
अभिमन्युओ को वह
और फिर ?
करेगी प्रतीक्षा
कृष्ण के आने की
दुहाई देते हुए
धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि की
बोलो वेदव्यास !
वर्तमान महाभारत मे
क्या उचित नहीं होगा
कौरवो का जीतना।



विष और शिव



कौन कहता है
विष मृत्यु देता है
रही होगी गलती कहीं
तुम्हारे प्याले मे या
पिलाने वाले में–
गवाह है एक
पूरी की पूरी सस्कृति
कि जब जब बैठकर
त्याग की मृगछाला पर
परजनो की व्यथा का
किसी ने विष पिया है
तब तब इस विष ने
हम सबको शिव दिया है।



मेरे अन्दर का कृष्ण



जमुना का पानी
सूख भी जाएगा यदि
देखना वहाँ की बालू रेत मे
प्रतिबिम्ब तुम मेरा—
बाँसुरी का बाँस
लील भी जाए अगर सारे स्वर
कालियादेह बनकर भी
सुनना
मधुवन के झोको मे
गीत तुम मेरा—
ब्रज की भूमि भी
हो सकती है हिरोशिमा एक दिन
या बन जाए वृन्दावन
शायद कुरुक्षेत्र सा—
प्रकृति !
याद रखो कि
परिस्थितियो से नहीं
मन स्थितियो से जन्मते हैं कृष्ण।



चार मीनार *



हर एक मीनार पर लिखी है
कहानी एक एक खुदकशी की
आज पहली बार पहुँचा है
इतिहास जमीन से उठकर
आकाश में--
आज लिखे गये स्याह शब्द
चीखेगे, चिल्लाएगे
और देंगे बयान इस देश की
पौरुषहीनता व खोखलेपन का--
और
पूछेगे वे हमसे एक प्रश्न
क्या अधिकार है तुम्हे
समाज कहने का
एक नपुसको के समूह को ?



(* "चार मीनार से कूद कर चार बहिनों ने दहेज की मांग के आक्रोश में आत्महत्या की" --इसी समाचार पर)

आत्मबोध

•

क्यों चीखते हो और
पूछते हो आज
कि कहाँ गया खून सारा ?
जानते हो मित्र
मूल्यों का हनन होने पर
रक्त नहीं बहता
वहाँ तो सिर्फ होती हैं
कुछ चीखें, कुछ तड़पन, कुछ घुटन–
इन सबके पीछे
आदर्शों की लाश
पूछती है कुछ अनुत्तरित प्रश्न
और
उत्तरदायी इतिहास बन जाता है मूक तब
बन जाती है वास्तविकताएँ मिट्टी के लौंदे
जो ढलने लगते हैं
कभी दर्शन के रूप मे
कभी जीवन के रूप मे
और फिर
इसके पहले कि जीवन बन कर रह जाए
सिर्फ पुस्तकालय एक
दीमक चटी हुई फटे पन्नों की किताबों का
कुछ पंक्तियाँ देती हैं सांत्वना
यह कहकर कि
'यदा यदा हि धर्मस्य'
और तब समय चक्र करने लगता है
प्रतीक्षा स्वयं के वर्तन की।

•

हमारी कहानी



वह मेरठ था
या मुरादाबाद की सडक कोई–
वे दो थे
दोनो खडे थे
जगत सोया था और चेतना थी सोई
पहला कहता मैं मानव हूँ
सिर्फ जीने का अधिकार मुझे है
दूसरा भी उतना ही कर्कश
कहता मैं हूँ इन्सान
कैसे फिर यह अधिकार तुझे है ?
"मेरा मुहम्मद तेरे राम से
सबसे बहुत बडा है"
"नहीं, मेरा मन्दिर अधिक पूज्य
अनन्त से यहाँ खडा है"
शब्दो से, तर्को से कहीं
समाधान कभी हुआ है
नहीं होना था, नहीं हुआ फिर।
शस्त्रो, अस्त्रो को होना था
उनके साक्षी, और वही हुआ फिर।
धर्म, धर्म कर जब वे लडते थे
पंचभूत देख यह सब हँसते थे
फिर देख कर यह नाटक
एक नाटक पंचभूतो ने खेला
इस नाटक के उन दो पात्रों से

खींचा उन्होंने अश अपना।
पचभूत भूतों मे मिश्रित
एक अनन्त शून्य वहाँ था
राम कहाँ, कहाँ मुहम्मद
कहाँ मस्जिद और मन्दिर कहाँ था
एक शून्य था
वही सत्य था
वही राम था
वही मुहम्मद
मन्दिर था शून्य में मिश्रित
मस्जिद भी थी
उसी शून्य से निर्मित।
सभ्यता यह, सारी संस्कृति शून्य है यह
शून्य सत्य है इसे पहचानें हम
हिंसा के पहले
अस्तित्वहीन होने के पहले
इसी शून्य को जानें हम।



कर्ज



कर्ज कितना है चढा
मौसम के गीत का
प्रियतम की प्रीत का
        सूरज की धूप का
        चदा के रूप का
माँ की लोरी का
झूले की डोरी का

कर्ज सिर चढ बोल रहा
वायु का, आकाश का
दीप का, प्रकाश का
                बचपन और जवानी का
                दादी की कहानी का
        विछोह की रात का
        प्रिये की सौगात का
आओ चुका दे, उऋण हो जावें
कर्ज
        जीवन के प्रतीक का
        शहीद हुए अतीत का
        सजनी की भावना का
        प्रेम की सम्भावना का।



जीवन



यहाँ के पानी मे
बहते हैं भवँर, तिनके नहीं
और भवँर
डूबने वालो के सहारे नहीं बना करते–
यह सस्कृति है चक्रवातो की
जहाँ चलती है आधियाँ
उत्पीडन की
एव उठा करते हैं तूफान
विवशताओ के–
इन तूफानों से होकर जाती है
एक राह सँकरी–सी
जिसमे एक अस्थिपजर
गिर कर सम्भलने व सम्भल कर गिरने की
प्रक्रिया से गुजरता हुआ
करता है प्रयास
उस राह को पार करने का–
मैं नहीं जानता कि
तूफान, आधी, भवँर एवं पिंजर
प्रतीक हैं, सम्भावनाएँ हैं या फिर
मानसिकता
किन्तु इतना अवश्य जानता हूँ
कि वास्तविकता सिर्फ एक है
मूकदर्शक बनी एक नपुंसक पीढी।



मेघदूत



आज खड़ा था वह
मेरे सामने
जैसे विनय कर रहा हो
किसी संदेश के लिए–
कैसे कहता उससे कि
मेघदूत, नहीं है आज वहाँ
कोई आँखें तुम्हारी प्रतीक्षा मे
और दो कान
सन्देश मेरा सुनने के लिए।
कल जब वो थीं
तो तुम कहाँ थे,
थक गए थे मैं व मेरा सन्देश
तुम्हारी तलाश करते हुए–
और तुम सुनो–!
हे अतीत–संगिनी मेरी
मैं जानता हूँ कि कल
जब किसी स्मृति सावन की बूंदे
हटा जाएंगी
संवेदनहीनता का पर्दा
तुम्हारे कानों से
और हो उठेंगे नैन आतुर तुम्हारे
मेघदूत की प्रतीक्षा में–
और शायद
किसी हवा का अनजान झोंका

लाकर खडा भी कर देगा
इस सन्देश वाहक को मेरे समक्ष
किन्तु
मेरे शब्द चुक गए होगे तब
और
मैं नहीं समझता कि
शब्द रहित अभिव्यक्ति को
समझने की सामर्थ्य तुम मे है।

शब्द और मैं



शब्द, शब्द, और सिर्फ शब्द
हो गये हैं पर्याय
अस्तित्व के मेरे !
भूल चुका हूँ
शब्दों से अक्षर तक
अक्षर से ध्वनि तक
व ध्वनि से भाव तक
जाने वाले पथ को।
अब खोखले अर्थों के वियावान मे
शब्द ही शेर है
शब्द ही हाथी
जो उठा देते हैं कभी तो
कई गज मुझे जमीन से ऊँचा
या लील जाते हैं मुझे समूचा।
शब्द जुडते हैं–विचार बनने को
और मैं टूट जाता हूँ
शब्द होते हैं इकट्ठा–सिद्धान्त बनने को
और मैं बिखर जाता हूँ।
क्या मेरे जर्जर अस्तित्व को
भावना की संजीवनी
नहीं दिला सकते हो
क्यो नहीं शब्दो के दावानल से
मुझे बचा सकते हो।



नई भीड़



डरते थे तुम
हमेशा से ही
भीड मे शमिल होने से
यह सोचकर कि
तुम अमृतपुत्र हो
और अनजान पथ पर घिसटना
तुम्हारी नियति नहीं–
भीड का पथ
अनजान ही होता है हमेशा
किन्तु
अकेले नहीं थे तुम
यह सब सोचने वाले,
और आज
हो गई है खडी एक भीड
उन सभी की
जो भागते थे भीड से डरकर–
शायद यह नई भीड
उस पुरानी भीड से भी बडी है
और है अधिक अनजान
अपने पथ के बारे में।



छिद्रान्वेषण



क्यों पूछता है
हर मील का पत्थर
नाम और पता मेरा–
राह पर चलते कदम
नाप रहे हों पथ को
और तलाश रहे हो
सत्यता या सार्थकता मील के पत्थरों की
यह आवश्यक तो नहीं–
राह हमेशा ही
पथ तो नहीं होती,
कभी होती है औपचारिकता
और कभी प्रतिबद्धता
या फिर मानसिक विकृति का परिचायक
कभी–कभी,
फिर क्यो समझा जाता है
कदमों के चलने की प्रक्रिया को
छिद्रान्वेषण हमेशा ही।



अद्वैत घरोंदों का



घरोदे ही घरोदे
फैले हुए हर तरफ
कुछ बालू के, तिनको के कुछ
सशक्त रक्तिम तपित ईंटो के कुछ
घरोदे ।

बालको के हैं ये
कुछ विहगो के, और कुछ मनुओ के
सशक्त अव्यक्त परमपिता के कुछ
घरोदे ।

बनते हैं, टूटते हैं
कुछ पवन से
ईर्ष्या से कुछ या फिर
सशक्त रेडियो विकिरणो से कुछ
घरोदे ।

क्या जानते हैं ये
या सर्जक इन घरोदो के
कि घरोदो मे इन सभी
घरोंदा एक और भी है
जहॉ बेठा अनन्तकाल से
लेकर वह सर्जक तिनके
तिनके सत् के, चित् के और आनन्द के
हाँ, तिनके ब्रह्म और घरोदे काया हैं
तिनके सत्य और घरोंदे माया हैं।



बोधिसत्त्व

●

वह पथ यहाँ से जाता है
अनन्त तक
संकीर्ण इस ओर व
विस्तृत वह छोर
चिर निशा से बंधा यहाँ
दीप–श्रंखला से सजा वहाँ
यह कुंठा, व्याकुलता की अनल
वह शान्ति कैसी शुभ्र–धवल
जैसे भी हो, जब भी हो
मैं जाऊंगा दूरस्थ शीर्ष पर,
कैसी विचित्र विडम्बना किन्तु,
निष्काम बनने की कामना
मन में यह भर जाता है
पथ जाता है हर पल, हर क्षण।
किन्तु कोई पथिक नहीं पाता है।

●

आत्मबोध



मैं न तो हूँ कोई
अव्यक्त धारणा,
अनुत्तरित प्रश्न या
अस्पष्ट सज्ञाओ की अनन्त श्रखला कोई—
हूँ मैं बेरग मोहरा
जीवन के शतरज का
जो चलने से अधिक,
घिसटना जानता है,
दौडना तो एक भ्रम है,
जीतने से कहीं अधिक,
पिटना जानता है।



अनुत्तरित प्रश्न



प्रात हूँ फिर इस नीड मे
दिवस भर तलाशता स्वयं को
यायावरों की भीड मे।
मैं था, मैं हूँ और मैं होऊंगा
ये शब्द पर्याय हैं
अस्तित्व के मेरे,
कैसे इन्हे मैं खोऊगा।
चलता, दौडता, उछलता पथ पर
द्रष्टि दौडता
आरम्भ से मैं अन्त तक
मैं मृगतृष्णा हूँ
या मेरी परिभाषा
सेतु है एक जर्जर–सा
शून्य से अनन्त तक।



आईना बन जाओ

●

कविता तुम आईना बन जाओ
मैं आज देह अपनी देखूँगा
मेरे घाव, रक्तरंजित
नासूर बन गए
अकर्मण्यता से देखो
दोनो हाथ सड गए
सह सकता नहीं दर्द अब
काट इन्हें मैं फेकूँगा।
बना दे हर शब्द में
आज तू प्रतिबिम्ब मेरा
स्वच्छ स्थिर जल बन जाए
आज हर छंद तेरा
भाग्य के इस बलात्कार को
आँख से अपनी देखूगा
कविता तुम आईना बन जाओ।

●

आगमन मेरा



भावनाओ का विहग
चहकने लगता है
जब मैं यहाँ आता हूँ।
अकेला हूँ
स्मृतियो की अधेरी गली में
मडरा रही
स्वय की भुतहा परछाइयाँ
का मेला हूँ
बरसो से बेवा हुई उम्र की
माग मे
चमकने लगता है सिन्दूर
जब मैं यहाँ आता हूँ।
अपने ही रास्ते का
बन गया था मैं पत्थर
या एक
अनचाहा काँटा–
सोचता हूँ कि
स्याह रात की
अन्तहीन यात्रा का
बोझ किसने बाँटा।
भाग्य के बादलो की
गर्द हटाकर
कोई ध्रुवतारे–सा दमकने लगता है
जब मैं यहाँ आता हूँ।



अन्ततः



भीड मे
खो जाने का अहसास
वैसे तो
जीवन पर्यन्त नहीं होता
यदि होता भी
तो क्या पूछता यायावर पथ से
"क्या प्रकृति गाती भी है ?"
स्वर्ण–श्रंखलाओं से आत्मीयता का
भ्रम
वैसे तो चिर जीवी है
किन्तु यदि आती भी ज्ञानकिरण तो
क्या पूछता विहग पिंजरे से
"क्या उन्मुक्तता अधिकार भी है ?"
निरन्तर पतनोन्मुखी अस्तित्व
वैसे तो
नहीं होता परिलक्षित
रोज आईना देखने से भी–
यदि हट भी जाती
धूल आईने की
तो क्या पूछता प्रतिबिम्ब दर्पण से
"तुम मेरे सर्जक हो
या मैं तुम्हारा ?"



कुन्ती

•

शब्दो के बम यहाँ
बारूद से भी तेज चलते हैं
कागजी रिश्तो का रग
खून से भी अधिक लाल होता है
यहाँ बैठे हैं ठेकेदार–
हर मोड और चौराहे पर
शब्दों व अर्थों के ठेकेदार
रिश्तों व नातो के ठेकेदार
इसीलिए तो
इस नपुसक समाज मे
जब भी आता है
कोई कर्ण
वह 'दानवीर' या उससे भी अच्छी
पदवी तो पाता है
किन्तु ठेकेदारो का यह समाज
कुन्ती को
कर्ण की माँ कहने मे
शरमाता है।

•

नवीनता



छोड देना इस तरह अकेले
कोई नई बात तो नहीं
प्यार तो हमेशा ही से
अनिश्चितता के आँचल मे
पल कर बडा हुआ है
किन्तु
आशाओं, भावनाओ व आकाक्षाओं के
समुद्र का
अपने पाषाण हृदय से मथन कर
अस्तित्वहीनता का विष
तूने मुझे उपहार मे दिया है—
मेरे दर्द
और बोझिल सॉसो की
गगा को
मेरे ही सिर स्थापित कर
और बनाकर शिव मुझे
तूने एक नए
इतिहास का सृजन किया है।



निरन्तरता



जानता था यह तो मैं भी
कि छाछ को फूँकना
नहीं करता समाप्त सम्भावनाओ को
भविष्य मे
दूध से जल जाने की।
अनुभूतियाँ जब छोड देती हैं
सहारे व्याकरण के
और दायरे परिभाषाओ के–
तब नहीं रह जाता
जरा भी मतलब इस बात से
कि जलाने वाला
छाछ है या दूध–
इतिहास की होती है
पुनरावृत्ति किन्तु
हर बार एक नए रूप मे
और तब
जले हुए ओठ व जीभ
समझते हैं प्रत्येक द्रव को
पर्यायवाची दूध का।



आत्मदर्शन



एक बुलबुला हूँ मैं,
जो उभर आया हूँ सतह पर
समय की झील के........ .
इस झील के पानी मे
देखा है मैंने तैरते
तात्विकता से अधिक वास्तविक
प्रतिबिम्बो को–
अपने सान्त जीवन मे किया है
साक्षात्कार असान्त से–
धाराओं के क्षणभंगुर शब्द स्वरो में
पहचाना है अनवरत समय प्रवाह को–
और यह सब देखता नहीं रहा
मैं एक मूकदर्शक बन,
मैंने भी बहना चाहा,
साथ उस धारा के
बन कर पर्यायवाची तिनके का
किन्तु,
दुर्भाग्य–
खोखलापन अभिशाप है !



महाभारत



कटे हाथो की राजनीति
और
नपुसकता का रगमच–
आईना मत दिखाओ इन्हे
सभी प्रतिबिम्बहीन हैं ये
राजा, प्रजा, ग्राम, सरपच
खाते हैं कलाबाजियाँ
और किराये की बजवाते हैं
तालियॉं।
रगे सियार हैं सभी
"हुआ–हुआ" करते
हर गली मे, हर मोड पर
नया वेष धरते–
दर्शक चिल्लाता है
बन्द करो,
बहुत हो चुका है अब
जी मिचलाता है
वे नहीं सुनते–
नाटक आगे चलाते हैं
तूती की आवाज है उसकी
इस नक्कारखाने मे
पात्र अत्यन्त व्यस्त है
किन्तु नाटक अपना दिखाने मे।





मुकेश जैन

जन्म . 3 अक्टूबर 1964,
कोटा (राजस्थान)

शिक्षा . बी. ई (इलेक्ट्रॉनिक्स)
मौलाना आजाद प्रौद्योगिकी
महाविद्यालय भोपाल, म प्र.
(स्वर्णपदक सम्मानित)
एम बी ए.
भारतीय प्रबन्ध सस्थान,
अहमदाबाद

सम्प्रति · भारतीय पुलिस सेवा,
वर्ष 1989 मे प्रवेश
पुलिस अधीक्षक, रायसेन

साहित्यिक परिचय ·

बचपन से ही कहानियाँ लिखने का शौक। महाविद्यालय की पत्रिका मे लेख। बच्चों के लिए लेखन– नन्दन, बाल भारती आदि पत्रिकाओ मे कहानियाँ व कविताएँ प्रकाशित। समाचार पत्रो मे वर्ष 1982 से लगातार लेख व कविताएँ प्रकाशित। बालाघाट पदस्थापना (1990-1993) के दौरान पुलिस पत्रिका 'प्रतिबिम्ब' का सम्पादन। 'नक्सलवाद : एक चुनौती', नक्सली समस्या की रूपरेखा व उसके उन्मूलन की रणनीति पर सकलित पुस्तक (1993)

पता : मुकेश जैन
पुलिस अधीक्षक
रायसेन (म.प्र.)

ISBN-81-7365-075-6